मालेगाँव सिनेमा में फ़िल्म प्रबंधन
Film Management in Malegaon Cinema

डॉ. मनीष कुमार मिश्रा
के.एम.अग्रवाल महाविद्यालय
कल्याण-पश्चिम, महाराष्ट्र

सिनेमा का अध्ययन पारंपरिक रूप से व्यापक या अधिक प्रचलित सिनेमा के साथ जुड़ा रहा है । जैसे कि भारत के संदर्भ में **हिंदी सिनेमा या बालीवुड** को माना जा सकता है । इसे मुख्य धारा का सिनेमा भी कहा जा सकता है । लेकिन भारत जैसे बहुभाषी और विविधताओं से सम्पन्न राष्ट्र के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने **क्षेत्रीय सिनेमा** की नब्ज़ को भी टटोलता रहे । इन क्षेत्रीय सिनेमाओं में ही भारत की प्राण शक्ति है । अलग-अलग समुदायों,समूहों,क्षेत्रों और भाषाओं में बन रहे सिनेमा का बड़े और व्यापक रूप में आकलन, अंकन, अलंकरण और संरक्षण सरकार की गंभीर सामाजिक ज़िम्मेदारी है । ऐसे सिनेमा का निर्माण व्यवसाय से अधिक जुनून का विषय होता है । यह जुनून व्यक्तिगत या सामाजिक अस्मिता, पहचान, प्रतिष्ठा और सामाजिक – सांस्कृतिक प्रतिबद्धता का विषय होता है । इनकी अनदेखी राष्ट्रीय चिंता का विषय है।

आज हम जिस कठिन और विवादास्पद समय से जूझ रहे हैं, ऐसे समय को **'स्थानीय सिनेमा'** किसी भी मुख्यधारा के **व्यावसायिक सिनेमा** से अधिक बेहतर तरीके से सामने ला रहा है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाओ में जिस तरह की अनैतिकता, भ्रष्टाचार और अमानवीयता पनप चुकी है, उससे टकराना उसे चुनौती देना, खुद बहुत बड़ी चुनौती है। औरतों, बच्चों, दलितों एवम् हाशिये के समाज और उनके संसाधनों का दोहन आज एक गंभीर वैश्विक समस्या है। अव्यावसायिक सिनेमा की एक बहुत बड़ी खूबी यह होती है कि वह **विवादास्पद मुद्दों से जूझने का माद्दा रखता है।** सरकारें व व्यवस्था में जिन विषयों को लेकर असहज महसूस करती हैं, ऐसे विषयों को बिना किसी समझौते के प्रस्तुत करना इनकी खूबी है।

सरकार या कॉरपरेट घराने जिन फिल्मों को आर्थिक रुप से संयोजित करते हैं, वे उनकी निर्माण प्रक्रिया एवम विषय को भी गहराई से प्रभावित करते हैं। लेकिन जहाँ इनकी पूँजी का दबाव नहीं है अर्थात जहाँ व्यक्तिगत संसाधनों से पूँजी की व्यवस्था की जा रही है, वहाँ यह सरकारी दबाव काम नहीं करता। इस तरह से 'स्मॉल' सिनेमा सरकारी और "पूँजीवादी" - दोनों शिकंजों से अपने आप को मुक्त रखते हैं। फिल्में को लेकर विवाद कई तरह के होते हैं। ये बाह्य और आंतरिक दोनों हो सकते हैं। बाह्य दबाव कई बार सरकारी नीतियों, इच्छाओं, योजनाओं, विचारधाराओं इत्यादि को लेकर होता है तो कॉरपरेट घरानों का **'पूँजी के बदले'** का दृष्टिकोण । एक तरह का दबाव ही है।

आंतरिक दबाव फिल्म में उठाये गये विषय, संवादों और उसकी व्यापक स्वीकृति - अस्वीकृति को लेकर होता है। कई बार स्त्रियों, बच्चों, लैंगगिकता, संस्कृति एवम् धार्मिक मान्यताओं व परंपराओं को लेकर भी विवाद हो जाता है। लेकिन इस तरह के विवाद भी कम 'विवादास्पद' नहीं हैं। ऐसे विवादों का भी अपना एक तंत्र है। छोटे या 'स्मॉल' सिनेमा में चूँकी पूँजी अधिक नहीं लगती और ना ही उसकी व्यापकता उतनी अधिक होती है। इसलिए बड़े व्यावसायिक सिनेमा की तुलना में यहाँ 'विवादों' के लिए अवकाश कम होता है। स्थानीय या 'स्मॉल' सिनेमा की स्वतंत्रता उसके अंदर एक अलगाव का भाव भी पैदा करती है। कई बार स्थानीयता या उनसे थोड़ा आगे बड़े हो क्षेत्रीयता का भाव इतना प्रबल हो जाता है कि वह व्यापक राष्ट्रीय मुद्दों को चुनौती देने लगता है।

किसी स्थान विशेष का समुदाय अपनी स्थानीय अनुभूति और व्यवहार को लेकर बहुत अधिक सजगता दिखाता है। स्थानीय लोग अपनी छोटी से छोटी बात को गर्व पूर्ण तरीके से प्रस्तुत करना चाहते हैं। वे दूसरों को यह अनुमति नहीं देना चाहते कि वे अपनी परंपरायें, भाषा रीति-रिवाज इत्यादि उनके ऊपर थोपें। भाषा और संस्कृति मुख्य रूप से इन फिल्मों का आधार होता है। स्थानीय मिथकों एवं स्थानीय प्रभुता इन फिल्मों की 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' का मूल स्वर होता है और यही इनकी अस्मिता का मूल भी । कई बार यह भी देखा गया है कि स्थानीय मुद्दो, राजनीति, मान्यताओं इत्यादी को लेकर आप जिस तरह से अपने आप को अभिव्यक्त करते हैं, उसी से आप को कतिपय स्थानीय राजनीति के पक्ष या विपक्ष में रख दिया जाता है। अर्थात यहाँ '**अभिव्यक्ति के खतरों**' से आप को दो-दो हॉथ करने पड़ते हैं।

कई बार समाज किसी तरह भी अपने किसी निर्धारित कार्यक्रम की तरह समुदायों में जान बूझकर दूरी नहीं पैदा करता । एक दूसरे के बीच के दूरी, **आर्थिक संपन्नता या विपन्नता** के आधार पर अपने आप ही बन जाती है। अर्थ सामाजिक, सामुदायिक एवं पारिवारिक संबंधों में बड़ी सूक्ष्म भूमिका निभाता है। '**पारिवारिक रिश्तों का भावनात्मक बोझ**' अधिकांश पारिवारिक भारतीय फिल्मों का मुख्य केन्द्र होता है। 'अर्थ' की सूक्ष्म भूमिका यहाँ भी आ जाती है। अर्थ 'पारिवारीक संबंधों में बड़ी सूक्ष्म भूमिका निभाता है ।

यह स्थानीय फिल्मों में भी दिखता है। इसलिए इस '**बोझिल कथानक**' से बचने के लिए स्थानीय फिल्में या तो **स्थानीय समस्याओं** को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ती हैं या फिर '**कॉमेडी**' और '**सेक्स अपील**' को। पारिवारिक भावनाओ, संबंधों इत्यादि की जटिलता, नाटकियता एवम इनसे उपजी समस्याओं का हल प्रस्तुत करने में किसी आदर्श नायक का खप जाना, मुख्य भारतीय सिनेमा का तो प्रमुख चरित्र रहा है लेकिन स्थानीय सिनेमा ने अपने आप को मोटे तौर पर **इस 'पद्धति'** से अलग रखा है। उसने **अपने आप को हँसी-मजाक, कामेड़ी दो अर्थी संवादों, सेक्स इत्यादी के आस-महज अधिक केन्द्रित किया है।**

जिसकी कड़वी और प्रखर आलोचना भी समय समय पर होती रहती है। जीवन के प्रवाह को बड़े सहज सरल और हलके-फुलके मनोरंजन के माध्यम से प्रस्तुत करता 'मालेगाँव' जैसे स्थानीय फिल्मों का केन्द्रिय पक्ष रहा है। जीवन की समस्याओं के समाधान या

निराकरण के लिए मध्यमवर्गीय या निम्नमध्यमवर्गीय मेहनतकश समाज 'मेहनत' और 'संघर्ष' जैसे हथियारों के साथ जुटा रहता है। ऐसे में कई बार जीवन की बोझिलता उसे उदास कर अनमना बना देती है। इन्हीं से बचने के लिए ऐसी (मालेगांव फिल्मों के संदर्भ में) हलके-फुलके मनोरंजन के साधनों के दम पर वह अपने यथार्थ से थोड़ा 'अंतर' बनाकर सहज होने की यात्रा में आगे बढ़ता है और जीवन में व्याप्त तनाव को कम करता है । 'मालेगाँव का सिनेमा' की अब तक की यात्रा पर एक नजर डाले तो हम यह भी पायेंगे कि इन फिल्मों में **राजनीतिक विरोधों, गतिरोधों एवमं हिंसात्मक मामलों को दूर रखा गया है।**

इन फिल्मों में मार-पीट के जो दृश्य फिल्माये भी गये हैं वे 'बुराई पर अच्छाई' की जीत जैसे सिद्धांतों के प्रतिपादन, नायिका का नायक द्वारा संरक्षण और कभी-कभी हास्य की निर्मिती के लिए भी किया जाता रहा हैं। **लैंगिक, सामुदायिक एवम यौनिक संघर्षो को भी यह सिनेमा है की मजाक में ही उड़ा देता है।** लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि यह इनके 'महत्व' को नहीं मानता। मुझे लगता है कि **अवहेलना 'महत्व' को लेकर नहीं उसकी 'गंभीरता' के लबादे को लेकर है ।** कई मुख्य बॉलीवूड की फिल्मों ने इस बात की नब्ज को समझा और नये तरीके से गंभीर विषयों पर फिल्मों के निर्माण का कार्य किया। यह प्रयोग सफल भी रहा। गाँधीवाद' को 'गांधीगिरी' के माध्यम से "मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस" जैसी कामयाब फिल्में बनी। 'थ्री इडियट' भी इसी थींम की बड़ी महत्वपूर्ण एवम कामयाब फिल्म रही।

हलाँकि स्थानीय सिनेमा में ऐसे उम्दा उदाहरण कम मिलते हैं। लेकिन क्षेत्रीय सिनेमा में ऐसे बहुत से उदाहरण आसानी से हमें देखने को मिल जाते हैं। अगर **मराठी सिनेमा के संदर्भ में** कहूँ तो पिछले दशक में कई मराठी फिल्मों ने अपनी **प्रयोगधर्मिता और विषय की नवीनता** से सभी को आश्चर्यचकित किया है। '**सैराट**' और '**न्यूड**' जैसी मराठी फिल्मों ने अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय पहचान बनायी। नागराज मंजुले जैसे निर्देशक छोटे वृत्त से बड़े वृत्त में चर्चा का केन्द्र बन गये। भारत के तमाम क्षेत्रीय सिनेमाओं में इसतरह के उदाहरण मिलते हैं। **बांग्ला** और **असामिया** सिनेमा की अपनी कलात्मकता को लेकर हमेशा ही चर्चा होती रही है और यह सिनेमा बड़ा प्रसिद्ध भी रहा है। **समाज की 'सच्चाई' और 'फिल्मांकन' के बीच** संबंध तो निश्चित ही होता हैं। कई बार यह बड़ा सरल और आसानी से समझ में आनेवाला होता है तो कई बार यह बड़ा सूक्ष्म और रहस्यात्मक।

इसकी व्यापक विवेचना के द्वारा इसकी परतें खोली जा सकती हैं। कई बार स्थानीय सिनेमा अपने ही मतभेदों एवम् सीमाओं के कारण 'अनुपयोगी' सा हो जाता है। अर्थात उसमें समाज को देने के लिए कुछ खास नहीं होता। यहाँ तक की '**नकारात्मकता**' और '**मनोरंजन**' भी नहीं। लेकिन इन सब के बावजूद ऐसी फिल्मों का निर्माण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है **कि वे फिल्मांकन की यात्रा में शामिल रहे हैं जो कि उनकी प्रतिबद्धता का प्रतिनिधि तो माना ही जा सकता है**। ऐसी 'धृष्टता' और विश्वास को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

स्थानीय फिल्में बहुत 'व्यक्तिगत' होती हैं। उनकी 'सीमायें' ही उनकी पहचान हैं। और यही उनकी शक्ति भी। इसलिए किसी भी तरह की 'कलात्मक स्थिति' इनके डगमागते विश्वास को ही रेखांकित करेगा ।

इसलिए यह बहुत जरूरी है कि ऐसी कलात्मक 'धृष्टताएँ' अपने पूरे विश्वास के साथ जारी रहें। **यह एक साहसिक एवम रोमांचक यात्रा की तरह है।** इसका साहस सभी में नहीं होता है । ऐसी यात्राओं के लिए "पागलपन" और 'धृष्टता' जरूरी है। **राष्ट्रीय प्रतीकों का निर्माण जिन रूपको एवम 'व्यक्तिगत पहचान' की राजनीति से जुड़ा हुआ है, उस ताने-बाने में 'स्थानीय सिनेमा' अपने आप को अधिक सहज नहीं पाता।** लेकिन इससे राष्ट्र के प्रति उसके समर्पण, त्याग और निष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लगाना उचित नहीं होगा। एक राष्ट्र अपनी पहचान की मूल अवधारणा में अन्य राष्ट्र के पास अपने संबंधों एवम संकल्पों को लेकर परिभाषित होता है। ऐसे में **'स्थानीय'**, '**क्षेत्रीय**' और '**देशज**' फिल्मों के लिए आकलन और **विश्लेषण के नये औजारों की नितांत आवश्यकता है।**

भारत जैसे विविधताओं से भरे हुए देश में यह बहुत जरूरी है। **'व्यक्तिगत पहचान'** के साथ-साथ हम **'वर्गीकरण'** का भी हिस्सा होते हैं। और जैसे ही आप वर्गीकृत' हो गये तो आप का पक्ष-विपक्ष अपने आप निश्चित हो जाता है। **कलात्मकता को आप 'टकसाली' पद्धति में नहीं चला सकते। वह अवकाश की जगह है।** वह नवीनता के आग्रह से भरी हुई है। इसलिए वहाँ **'धृष्टताओं'** को भी सहजता से लेना होता है। **यह खाँचागत पद्धतियों एवम व्यवस्थाओं से बहुत ही अलग एक अपने किस्म की अनोखी दुनियाँ है।**

बहुभाषी संस्कृति भारत की पहचान है। इन विविधताओं का सम्मान करते हुए ही इस देश को आगे बढ़ना है। हजारों बोलियों -भाषाओं वाले इस देश में कुछ बोलियाँ और इन्हें बोलनेवाला समाज बहुत ही छोटा है। बहुत बड़े वृत्त के फलक पर या तो इनकी कोई पहचान ही नही है या फिर इन्हें उस योग्य ही नहीं समझा जाता।

लेकिन अपनी बोली-भाषा और **अपनी 'पहचान'** की एक तड़प् इन समाजों / समुदायों में लगातार बना रहता है। यह तड़प ही सृजनात्मकता के अंकुर बनकर उनके अंदर फूटते हैं । प्रचलित भाषाओं - बोलियों में बनने वाली फ़िल्में, **जिनक मुख्य रंग 'स्थानीय' होता है** उन्हें प्रोत्साहित करने का प्रयास होना चाहिए। **इनमें सरकारी और जनभागीदारी दोनो की ही आवश्यकता है। क्षेत्रीय** या **स्थानीय सिनेमा** को लेकर भारत में समान्य रूप से भावुकतापूर्ण माहौल है। दक्षिण भारत के नायक-नायिकाओं को लेकर जो दिवानगी लोगों में है, उसे इसका एक प्रमुख उदाहरण माना जा सकता है। **'स्थानीय' या 'लोकल' सिनेमा को भी तकनीक के उपयोग से अब 'ग्लोबल' बनाना आसान है।** इससे उनकों एक बड़े वृत्त में पहुँचाना आसान होगा। उन्हें चर्चा के नये अवसर मिलेंगे। वे थोडे बेहतर स्थिति में पैसे भी कमा सकते हैं। आवश्यकता सिर्फ इस बात ही है कि हम अपने **छोटे छोटे प्रयासों, नवाचार इत्यादि से स्थानीय सिनेमा को प्रोत्साहित करें।**

उनके प्रयासों को नजरअंदाज न करें। उनका मनोबल न गिराएं। यह छोटे-छोटे प्रयास ही उन्हें **बड़ी दुनिया के केन्द्र में प्रवेश** दिला सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जो लोग इसतरह के फिल्म निर्माण से जुड़े हैं उनका एक **औपचारिक संगठन** तैयार किया जाये। इस संगठन के लोग एक - दूसरे से ``मिलकर आपस में अपनी परेशानियों एवम् उपलब्ध तकनीकी जानकारी पर चर्चा करें, आपस में सहयोग करें । इसके लिए कार्यशालाओं, चर्चासत्रों, व्याख्यानों इत्यादि का नियमित आयोजन किया जाना चाहिए ।''

भाषा की विविधताओं से पूरे देश को अवगत कराने के लिए एवम् **सांस्कृतिक आदान प्रदान** इत्यादी के तरीके खोजना जरूरी है । इस तरह के **स्थानीय या छोटे सिनेमा को भी दर्शकों के बड़े समूहों तक उपलब्ध कराने के नये तरीके तलाशने होंगे ।** तकनीक को किस तरह इस स्थानीय या लोकल सिनेमा के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है, इसकी संभावनाओं पर व्यापक विचार और प्रयोग भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम रहेगा।

अगर इस बात की गंभीरता को समझा जाये कि 'मालेगांव सिनेमा' किन कारणों से विशेष है तो जो संभावित उत्तर हो सकते है; वे निम्नलिखित हैं।

1) अपनी विशिष्ट बोली ।
2) मालेगाँव की संस्कृति ।
3) मालेगाँव में निर्माण ।
4) मालेगाँव की ही पूँजी ।
5) मालेगाँव में फिल्मों का प्रदर्शन ।
6) मालेगाँव के ही कलाकार (आस-पास के भी) ।

इस तरह हम देखते हैं कि **'मालेगाँव में सिनेमा' नहीं बल्कि 'मालेगांव का सिनमा' महत्वपूर्ण है।** अर्थात यह वह सिनेमा है जिसके केन्द्र में इसकी **'स्थानिकता'** और **'स्थानिय सहयोग'** है। यही वह विशेषता है जो इसे विश्व में **'स्माल सिनेमा'** के दुनियाँ में भी महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। **इस तरह के सिनेमा के संरक्षण और संपोषण के प्रयासों को सरकारी मदद मिलनी ही चाहिए । कला और संस्कृतियों के डिजीटलीकरण के रूप में संरक्षण का महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य, हर सरकार की नैतिक और महत्वपूर्ण जिम्मेदारी भी है।**

किसी भी फिल्म के निर्माण में कुछ सार्वभौमिक खतरे हैं जो पूरी दुनियाँ में एक समान है। जैसे कि

1) फिल्म के निर्माण में निवेश की गई पूँजी के डूबने का खतरा ।
2) फिल्म के पूर्ण न हो पाने का खतरा ।

3) फिल्म निर्माण में लगने वाले समय से जुड़ा संकट ।
4) कलाकारों के अंत तक बने रहने का संकट ।
5) दर्शकों की पसंद - नापसंद का संकट ।
6) फिल्म के प्रदर्शन से जुड़ा संकट ।
7) विषय के चुनाव का संकट ।

लेकिन जैसे ही आप **'स्थानीय सिनेमा'** से जुड़े संकटों के बारे में सोचते हैं तो यह संकट अधिक बढ़ जाते हैं। क्योंकि 'स्थानिय सिनेमा' की परिधि छोटी होती है। अतः उस **सीमित परिधि में ही पूँजी जुटा लेना और स्थान विशेष की बोली-भाषा में फिल्म बनाकर उसे 'हिट' कर लेना अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य है।** फिल्म के 'चरित्रों' का निर्माण भी 'स्थानीय सिनेमा' के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। सीमीत क्षेत्र में लोगों के रहन-सहन, धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताएँ, खान-पान, पहनावा इत्यादि बातें उन लोगों के विचारों पर हावी होते हैं।

मालेगांव की फिल्मों और इन फिल्मों में उपयोग में लाये जा रहे संगीत के **'कॉपी राईट'** का मामला कानूनी रूप से गंभीर है। लेकिन व्यवहारिक रूप से इसकी चिंता शायद इन फिल्मों को बनानेवालो को बिलकुल भी नहीं। अभी तक मेरी जानकारी में कोई ऐसी आपत्ती भी बॉलीवुड या हालीवुड के निर्माताओं द्वारा कानूनी रुप से नहीं उठायी गई है। जिस तरह के सीमित संसाधनों में मालेगांव की फिल्में बनायी जाती हैं, **उनके लिए यह संभव भी नहीं है कि वे फिल्म निर्माण की सभी तकनीक, परिस्थितियाँ, वितरण इत्यादी पर कानूनी रूप से अमल कर सकें।**

इसलिए फिल्म निर्माण के लिए मालेगाँव के संदर्भ में जब आप बुनियादी ढाँचागत सुविधाओं के बारे में सोचें तो **आप अधिक से अधिक कैमरा, कमप्युटर, मिक्सर, बैलगाडी, बस, रिक्शा, कार, ठेला, साईकल, खिलौने वाली बंदुके, हवाई जहाज, हेलीकॉप्टर इन्हीं के बारे में सोच सकते हैं। यहाँ ''वैनटी वैन'' और स्टूडिओ जैसा कुछ भी नही।** सन 1980 के बाद भारत जिस तरह से **वीडियों संस्कृति** का बड़ा केन्द्र बनता गया उसने **''बौद्धिक संपदा''** के अधिकारों को लकर एक नई बहस की जोरदार शुरूआत की। भारतीय कॉपी राईट एक्ट में सन 1994 एवम् 1999 में कई बदलाव किये गये जिससे कि स्थितियाँ अधिक बेहतर हो सकें । सन 1990 से लेकर अभी तक देश में **मीडिया संस्कृति** से जुड़ी उत्पादन, वितरण और नियंत्रण की नई - नई स्थितियाँ सामने आती रही हैं ।

भारत में फिल्मों और संगीत के बाजार में घरेलू कंपनियों का वर्चस्व रहा। महँगे विदेशी उत्पादों की क्रय शक्ति मध्यम वर्ग में नहीं था और पायरेटेड संस्कृति का नया विस्तृत भारतीय मीडिया बाजार, इस स्थिति में नहीं था कि कानुनी तौर पर इन्हें आसानी से नियंत्रित किया जा सके। **बहुकेन्द्रित भारतीय बाजार का ढाँचा भी इसके नियंत्रण में एक बड़ा रोड़ा था। विदेशी कंपनियों के लिए इस बाजार पर कब्जा करना मुश्किल**

था। मनोरंजन उद्योग का यह बड़ा ही अनौपचारिक ढाँचा विदेशी कंपनियों के लिए बड़ी चुनौती थी।

यह अनौपचारिक घरेलू ढाँचा स्थानीय स्तर पर जो व्यवसाय जिन बुनियादी ढाँचागत व्यवस्थाओं के साथ करता था उनमें वैश्विक-अर्थव्यवस्था और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कोई हिस्सेदारी किसी भी रूप में बनती ही नहीं थी। विश्व बाजार में जो बड़े-बड़े संगठन व्यापार कर रहे थे उन्हे भारत में ऐसा कोई ढाँचा या सहयोगी मिला ही नहीं जिनके साथ वे इस बड़े बाजार पर कब्जा करते। **मोशन पिक्चर एसोसिशन ऑफ अमेरिका** (एमपीएअ) और **बिजनेस सॉफ्टवेअर अलायेंन्स** (बीएसए) कुछ ऐसे ही बड़े वैश्विक संगठन थे । जब भी कोई विदेशी संगठन ''अधिकार प्राप्त'' संगठनों को बात-चीत के लिए तलाशता तो उसे **क्षेत्रीय निर्माताओं से बात करनी पड़ती जो कि राज्य विशेष में मजबूती से व्यापार करते थे।**

केन्द्रिय स्तर पर समग्र क्षेत्रीय बाजार के लिए बात करने की प्रक्रिया विकेन्द्रीकृत व्यवस्था के कारण अधिक कारगर नहीं थी। ऐसे में **''पायरसी'' के खिलाफ कानून इत्यादि की कोशिश कतिपय राज्यों के साथ हो सकीं लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर नहीं।** यद्यपि पश्चिमी देशों की ही तरह भारत में भी मज़बूत न्यायप्रणाली है जो केन्द्र, राज्य सरकारों द्वारा पुलिस इत्यादि की सहायता से व्यवस्थित ढ़ग से संचालित भी होते हैं। लेकिन मनोरंजन उद्योग में व्याप्त व्यवस्था के बीच 'न्याय की गुहार' अधिक व्यवहारिक नहीं थी।

समग्र भारत में ''पायरेटेड'' फिल्मों का उद्योग एक संगठित अपराध की तरह कार्य कर रहा था जिसमें कई राज्यों के क्षेत्रीय उद्योगपतियों व रीजनेताओं की बड़ी हिस्सेदारी थी। कई शहरों में ऐसे बाजार उभरने लगे जो इस ''पायरेटेड उद्योग'' को बढ़ावा देने में अहम भूमिका निभा रहे थे। जैसे कि दिल्ली का **''पालिका बाजार''** और मुंबई का **'लेमिग्टन रोड़'** **।** ऐसे ही अनेको बाजार पूरे देश में लोकप्रिय हो रहे थे। भारत में जो डिजिटल संस्कृति विकसित हो रह ही थी। उसमें इस ''पायरेटेड'' उद्योग का बहुत बड़ा योगदान रहा। नैतिकता और कानूनी नजरिये से इन पर प्रश्न जरूर खड़े हो सकते हैं लेकिन **इनके द्वारा जो एक नई संस्कृति के फैलाव में योगदान दिया गया, उसे झुठलाया नहीं जा सकता।**

सस्ते चायनीज हार्डवेअर की उपलब्धता ने की इस बाजार को बढ़ावा देने में अहम भूमिका निभाई । इस **सस्ती और पायरेटड तकनीक उपलब्धता ने सांस्कृतिक सहभागिता, शिक्षा, नवाचार और मनोरंजन इत्यादि के क्षेत्र में बहुत बड़े स्तर पर अपनी अहम भूमिका निभाई।** पूरे देश के कई इलाकों में इस नई 'डिजिटल संस्कृति' का जाल बढ़ता गया। कई छोटे-छोटे 'उपकेन्द्र' ऐसे उभरे जो इसतरह की तकनीक के बाजार भी थे और उसके उपयोग से एक नये तरह के निर्माण केन्द्र भी । एक बात यह भी समझनी होगी कि **भारत में तकनीकी आधुनिकता किसी 'नये' तकनीक या नवाचार से नहीं आया,**

अपितु ''रिसायकलिंग तकनीक'' ही इसका केन्द्र रहा है। इसी तकनीक ने भारत को 'सॉफ्टवेअर जायन्ट'' बना दिया।

भारत में कई ऐसे बाजार उभरे जो पुराने और पायरेटेड तकनीकी वस्तुओं के थी। जैसे कि दिल्ली का **'पालिका बाजार'** और मुंबई का **'लेमिनटन रोड़'** जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं । ये एक नई बाजार व्यवस्था थी जो तेजी से फैल रही थी । ऐसे ही कुछ अन्य जगहों की सूची बनायी जाय तो दिल्ली का **'नेहरू पैलेस'** भी एक महत्त्वपूर्ण नाम होगा । **यह पूरे एशिया में सेकेन्डहैंड कम्प्युटर के सबसे बड़े मार्केट के रूप मे जाना जाता है।** यहाँ तकनीक से जुडी लगभग हर तरह की दुकाने मिल जायेगी जो **'असेम्बलिंग'** से लेकर किसी खास तकनीकी 'पार्ट' तक को उचित मूल्य पर ग्राहकों के लिए उपलब्ध करा देती है।

"सड़कों का बाजार'' किस तरह काम करता है? और कितना बड़ा काम करता है? इसके अध्ययन की स्थिति न भी ज्ञात हो तो भी यह तो निश्चित है कि **''पायरेटेड मीडिया बाजार'' का बहुत बड़ा व्यापार इन सड़को पर हो जाता है** । यह बाजार पूरे देश में फैला हुआ है। इनके पास जिस हाल में चीजें उपलब्ध होती हैं वे बड़ी से बड़ी मीडिया कंपनी के लिए एक चुनौती ही है। इन सड़को पर सामान बेचने वाले यह अच्छी तरह जानते है कि कौन से समय में, किस स्थान पर क्या बेचना है? अर्थात कौन सी सड़क पर धार्मिक चीजें रखनी हैं और कहाँ पोनोग्राफी की सीडी बेचनी है । कहाँ क्षेत्रीय भाषाओं की सीडी अधिक बिकेगी तो कहाँ हिंदी और हॉलीवूड की फिल्मों की मांग होगी, वे सब जानते हैं।

कई राज्यों में ''पायरेसी'' की नैतिकता का प्रश्न हास्यास्पद है। जैसे कि दुकानदार क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों की पायरेटेड सामग्री नहीं रखते और न ही उसे बेचते हैं। लेकिन अन्य भाषाओं की फिल्मों के पायरेटेड सामान रखने में उन्हें कोई बुराई नजर नहीं आती। **क्षेत्रीयता के प्रति ऐसा सम्मान दक्षिण भारतीय राज्यों की सच्चाई है। चेन्नई का 'बर्मा बाजार' ऐसा ही एक उदाहरण है। और बैंगलोर का 'नेशनल मार्केट'' ।** देश भर में ऐसे कुछ बाज़ारों की सूची निम्नलिखित है ।

- **नेहरू पैलेस – दिल्ली**
- **गफ़्फ़ार मार्केट – दिल्ली**
- **टैंक रोड – दिल्ली**
- **चाँदनी चौक – दिल्ली**
- **मनीष मार्केट – मुंबई**
- **लेमिंटन रोड़ – मुंबई**
- **चिनाय ट्रेड सेंटर – हैदराबाद**
- **हांगकांग बाजार – हैदराबाद**
- **साउथ बर्मा बाजार – चेन्नई**
- **नेशनल मार्केट – बैंगलोर**
- **महात्मा गांधी रोड़ – बैंगलोर**

- **दालमंडी – वाराणसी**
- **चाँदनी चौक – कोलकता**
- **हांगकांग मार्केट – सिलीगुड़ी**
- **बाकरगंज मार्केट – पटना**
- **लक्ष्मण मार्केट – प्रयागराज**

इस तरह के 'पायरेटेड' बाजार में गोपनीय समूह भाषा का उपयोग होता है। जिसमें शब्दों का विशेष अर्थ होता है जिसे बेचने और खरीदने वाला अच्छी तरह से समझते हैं। स्थानीय वीसीडी और विदेशी फिल्मों की डीवीडी के लिए अलग–अलग शब्द इस्तमाल होते हैं। ऐसे वी कुछ शब्दों की सूची यहाँ देखिये --

- **माल - पायरेटेड सीडी इत्यादी**
- **ब्लू माल - स्थानीय वीसीडी कॉपी**
- **सिलवर माल - डीवीडी से कॉपी विदेशी और हिंदी सीडी**
- **बाटर का माल - हॉलीवुड की फिल्में**
- **गरम माल - नई फिल्मों की सीडी**
- **चिकनी / पटाखा - प्रोनोग्राफी सीडी**

सामोहिक अनुभूति ने एक तरह की 'सामोहिक विचारधारा' को भी बल प्रदान किया। अपनी भाषा, अपने लोगों और अपने तरीके से फिल्मों के निर्माण की स्थितियों ने एक स्थानीय पहचान और अस्मिता भाव से लोगो को जोड़ा। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण है कि आप अपनी पहचान बनाने की कवायद में शामिल हैं, अपनी तस्वीर में अपनी पसंद का रंग भरना सुखद रहता है। इस तरह के स्थानीय सिनेमा अपने क्षेत्र विशेष की समस्याओं को बहुत हलके–फुलके तरीके से प्रस्तुत करते हैं। अगर हास्य के अलग इनके निर्माण एवम् संवादों का विश्लेषण किया जाये तो यह साफ हो जाता है कि **अपनी जड़ों से जुड़कर जिस तरह ये समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं; उतने सूक्ष्म और व्यापक स्तर पर मुख्य–धारा का सिनेमा भी कभी कभार ही सामने आता है। यह इन फिल्मों की बड़ी बड़ी शक्ति है।** मालेगांव की मशहूर फिल्मों की सूची में निम्नलिखित फिल्मे गिनी जा सकती हैं।

- **मालेगांव का सूपरमैन ।**
- **मालेगांव के शोले ।**
- **मालेगांव का डॉन ।**
- **मालेगांव का गजनी ।**
- **मालेगांव टू दुबई ।**
- **मालेगांव का एक था टाईगर ।**
- **मालेगांव तेरे नाम ।**
- **देशी स्पाईडरमॅन ।**
- **मालेगांव का मोगली ।**
- **मालेगांव का टार्जन ।**
- **मालेगांव की शान ।**

- **खानदेश का जैन्या जानी ।**
- **खानदेश का अपरिचित ।**
- **खानदेश का टपोरी नं. 01 ।**
- **खानदेश का दयालू गब्बर ।**
- **खानदेश का बारात ।**
- **खानदेश का जैन्या भाई ।**
- **खानदेश टू गोवा ।**
- **खानदेश टू दुबई ।**
- **खानदेश का जावई की वापसी ।**
- **खानदेश का भूत ।**
- **मालेगांव की डर ।**
- **खानदेश का हीरो ।**
- **खानदेश का चार इडियट ।**
- **खानदेश का कर्जदार मास्टर ।**
- **खानदेश का दादा मुंबई की राधा ।**
- **खानदेश का डूबरेया जिन्न ।**
- **खानदेश का बजरंगी भाईजान ।**
- **मालेगांव का करण – अर्जुन ।**

मालेगांव की फिल्मों से जुड़ा एक महत्वपूर्ण नाम है **अकरम ख़ान** का । अकरम सन 1992 में सऊदी अरब में गये वहाँ 9 साल रहने के बाद मालेगांव वापस आये। उसके बाद नासिर की फिल्म 'मालेगांव के शोले' के लिए संवाद लेखक के रूप् में काम किया। उपलब्ध साधनों में अच्छा काम करने का जुनून अकरम के अंदर हमेशा से ही रहा । मोबाईल या मामूली कैमरे से शूट करके फिल्म बना लेने तक की व्यवस्था से अकरम अच्छी तरह वाकिफ थे । पहली फिल्म **'मुन्ना'** नाम से की थी । **डायरेक्टर के रूप में पहली फिल्म 'मालेगांव का डॉन' थी**। संगीत से अकरम को बहुत लगाव है। क्लासिकल गजलों को अकरम बहुत पसंद करते हैं। अकरम को स्कूल-कॉलेज से लगातार बुलावा आता रहता है। वे अपने फ़िल्म निर्माण के अनुभवों को बड़ी संजीदगी से साझा करते हैं ।

01 मिलियन व्युवर गोल्ड प्ले बटन अर्वाड भी अकरम को मिला। अकरम ये मानते हैं कि बालीवुड के कई बड़े लोगों ने इनके काम को सराहा लेकिन वहाँ इन्हें काम नहीं मिला। इन्हें नाम शोहरत और आमदनी अपने शहर मालेगांव से ही मिली। अकरम ने एक सीरीयल भी बनाया जो बड़ा लोकप्रिय रहा। टीवी सीरीयल का नाम है **मालेगांव का चिंटू।** यह सीरीयल उन्होने ने मालेगांव के सुपरमैन के बाद बनाया। उसके तीन सीजन इन्होंने पूरे कर लिये और विदेशों में भी इस फिल्म की शूटिंग की । यह धारावाहिक बहुत कामयाब रहा।

अकरम को अपनी 35 साल की मेहनत का फल यूट्यूब चैनल पर दिखायी पड़ता है। इस चैनल के 26.50 लाख व्ह्यूअर है। और इनका एक-एक वीडियो हप्ते भर में 3 मीलियन व्ह्यूअर पार कर लेता है। अकरम कहते हैं कि **बड़े पर्दे का सपना देखते-देखते छोटे पर्दे (मोबाइल) पर यूट्यूब के माध्यम से कामयाब महसूस करते हैं।** अकरम के साथ 6 से 7 लोगो की टीम है। फिलहाल हप्ते में एक वीडियो अपने चैनल पर अपलोड करते हैं। उनकी चाहत है कि वे हप्ते में 3 से 04 वीडियो अपलोड करें, वे इसके लिए प्रयास भी कर रहे हैं। अपनी टीम को बड़ा करने के बारे में भी अकरम सोच रहे हैं।

अकरम बताते हैं कि इलेक्शन के काम के सिलसिले में **'छोटू दादा'** का कैरेक्टर बना। बाद में इसी छोटू को लेकर खांदेशी भाषा में कई सीरीयल अकरम ने बनाये जिसे लोगों ने पसंद किया। **'छोटू दादा' आज मालेगांव का जाना-माना 'ब्रांड' है, वैसे ही जैसे 'मालेगांव का सुपरमैन'।** 'भाभीजी घर पर हैं' 'जैसे कॉमेडी सीरियल से प्रभावित होकर अकरम ने उसी तर्ज पर तीन-चार लोगों की टीम के साथ मालेगांव के लिए सीरियल बनाये। **लेडीज आर्टिस्ट का खर्चा अधिक पड़ता है। 'राधा' का कैरेकेटर करने वाली पुष्पा ठाकुर जलगाव की रहने वाली हैं ।** अन्यथा अधिकांश कलाकार मालेगांव के ही होते हैं टीम के साथ काम करते हुए सभी साथी कलाकारों को यह झूठ होती है कि वे विषय से संबंधित अपनी राय दे सकें। इस तरह सब मिलजुलकर काम करते हैं ।

अकरम अपने निर्धारित समय में काम करने की पूरी कोशिश करते हैं। अकरम का मानना है कि शहर (मालेगांव) के लोग भी आर्ट से बहुत मोहब्बत करते हैं, इसलिए वे काफी सहयोग करते हैं। अकरम नये बच्चों / कलाकारों को यह सलाह देते हैं कि फिल्मों के निर्माण और काम को लेकर एकदम बड़ा खर्च करना सही नहीं है। **आज तकनीक इतनी आगे बढ़ गई है कि आप चाहें तो मोबाइल पर ही शूट करें, वहीं एडिट और डबिंग करे और जब काम पूरा हो जाये तो यूट्यूब जैस प्लेटफार्म पर अपना चैनल बनाकर उसे अपलोड कर दें**। अगर उसमें कोई बात होगी तो लोग उसे जरूर पसंद करेंगे।

आज अकरम इसी तकनीक और यूट्यूब चैनल के माध्यम से अपना खर्चा निकाल रहे हैं। उनके चैनल के 01 मिलियन (दस लाख) से अधिक दर्शक हैं। वे चाहते हैं कि इसे बढ़ाकर दस मिलियन अर्थात 01 करोड तक ले जायें । इस तरह अकरम आज तकनीक की मदद से अपने काम को बखूबी अंजाम दे रहे हैं और मालेगांव सिनेमा को इंटरनेट के माध्यम से पूरी दुनियाँ में पहुचाँने में सफल हो रहे हैं। **मालेगांव का स्थानीय सिनेमा इंटरनेट के माध्यम से ग्लोबल हो चुका है 'स्माल सिनेमा' की दुनिया में मालेगांव अपनी एक अलग छाप छोड़ रहा है।** 'मालेगांव का सुपर मैन' बना चुके नासिर कहते हैं कि कॉमेडी सुपरहिट है। चार्ली चैपलिंग कल जितना लोकप्रिय थे आज भी उतना ही हैं और आगे भी रहेंगे। इसीलिए उन्होंने हमेशा हास्यप्रधान फिल्में बनाने की सोची।

पूरे मालेगांव में 310 से अधिक मस्जिदे हैं। इसलिए इसे **मस्जिदों का शहर भी कहा जाता है।** 2001 में जातीय दंगे मालेगांव में हुए। मालेगांव इन दंगों से स्तब्ध था। ऐसे समय में लोगों को हँसाने के लिए **नासिर शेख** ने 'मालेगांव के शोले' को केबल टीवी के माध्यम से पूरे शहर में दिखाते हैं। उनका उद्देश्य यह था कि दंगों का तनाव थोड़ा कम हो। घर से पैसा लगाकर नासिर कुछ नया करना चाहते थे । इसमें लगभग सभी कलाकार मालेगांव के ही थे । नासिर कहते भी हैं कि वे **जुनून की हद तक काम** करते हैं।

''न हिंदू बनकर लिखते हैं
न मुसलमान बनकर लिखते हैं
मेरे शहर के लोग
इंसान बनकर लिखते हैं।''

ऐसे संवादों और विचारों के साथ इस शहर के कलाकार आगे बढ़ रहे थे । कपड़े के ताने-बाने के लिये प्रसिद्ध इस शहर ने **हिंदू-मुस्लिम भाईचारे** को भी आधार दिया। यहाँ के कलाकारों ने इसमें अहम भूमिका अदा की है ।

वैसे तो सन 1968 से मालेगांव में फिल्मे बनती रही हैं । किसी **मेमन** की फिल्म जो कि उस समय बैन भी हुई थी का संदर्भ कुछ लोगों से बात चीत के दौरान मिला । लेकिन इस संदर्भ में अधिक जानकारी नहीं मिलती । दूसरी फिल्म वीडियो फिल्म थी जिसे **अबू बकर** ने बनायी। **कातिल खजाना** पहली फिल्म थी जो पूरी नहीं हो पायी थी । **सन 1987 में दूसरी फिल्म अबू बकर ने ही बनायी ।** अबू बकर का कहना है कि लोग यह माने के लिए तैयार ही नहीं थे कि मालेगांव में भी फिल्म बन सकती है। इसे एक चैलेंज के रूप में अबू बकर जी ने लिया।

बाद में नासिर ने एक गजल को पर्दे पर लाने की सोची। उसके बाद उन्हें फिल्म का ऑफर आया और **'गैंगवार'** और **'आज का मुगल-ए-आजम'** जैसी फिल्में उन्होंने दूसरों के लिए निर्देशित की। फिर उन्होंने **इरफान इलियास (गब्बर का किरदार निभाने वाला स्थानीय कलाकार)** को ध्यान में रखकर **'मालेगांव का शोले'** बनाने का संकल्प लिया। शोले के मुख्य कलाकारों की तरह दिखनेवाले मालेगांव के लोकल कलाकारों के साथ उन्होंने यह फिल्म बनाई । **इरफान इलियासी जैसे कलाकारो के लिए स्क्रीन पर यह पहला अनुभव था। इस फिल्म में डाकू घोड़े की जगह साईकिल उपयोग में लाते हैं। "मालेगांव की शान"** जैसी फिल्म में हेलीकाप्टर दिखाने के लिए, खिलौने वाले हेलीकाप्टर का उपयोग किया गया। **'मालेगांव का डॉन'** फिल्म भी कामयाब रही। इसके डायरेक्शन में अकरम ने बहुत मेहनत की। **फारुख जफेरी ने 'मालेगांव की लगान' को निर्देशित किया। दीपक अहिरे** इस लगान फिल्म में पानी और बिजली जैसी स्थानीय समस्याओं को प्रस्तुत करने के पक्ष में थे।

''कारे नलवा, कारे नलवा
पनिया तो टपका दे ।''

जैसे बोलवाले गाने इस फिल्म में खूब लोकप्रिय रहे।

'मालेगांव की करन अर्जुन' अपने समय की सबसे महंगे बजट की फिल्म थी। इसका कुल बजट पौन दो लाख के आस-पास का था। इस फिल्म का निर्देशन 'किट्टू' ने किया था। किट्टू बताते हैं कि उन्हें किसी काम से मुंबई जाना था लेकिन शहर के दंगों और तनावपूर्ण स्थितियों के कारण घरवालों ने मना किया और कहा कि जो करना है मालेगांव में ही रहकर करो। फिर 'किट्टू' ने अपनी माँ से कहा कि वे फिल्म बनाना चाहते हैं। माँ ने इस बात की अनुमति दे दी। फिर क्या था किट्टू ने अपने कुछ दोस्तों को लेकर फिल्म का काम शुरू कर दिया।

'**मुन्ना**' नामक फिल्म अकरम ने शुरू की। यह फिल्म मालेगांव में एक महिना तक चली। ''**काली कभी गाली नहीं देता**'' जैसे संवाद मालेगांव में बड़े लोकप्रिय हुए। वीसीआर टू वीसीआर एड़िटिंग इस फिल्म की नासिर शेख़ ने की। **मालेगांव का टार्जन** भी एक हास्य प्रधान फिल्म रही।

''आँख है, नाक है, कान है
यह लड़की हमारी मेहमान है।''

जैसे हास्य प्रधान संवाद इस फिल्म में बड़े लोकप्रिय रहे। मालेगांव में 'मिनी थियेटर' बहुत हैं। जिनमें क़रीब 200 लोग एक साथ बैठकर फिल्म देख सकते है। ''**मालीवुड इंडस्ट्री**' से जुडे लोगों की संख्या 500 से अधिक है।

वनमाला बागुल जैसी लड़कियाँ अब यहाँ की फिल्मों में काम करने लगी हैं। **पिंकी शर्मा** भी ऐसी ही कलाकार हैं। अहिराणी और मालेगांव दोनों ही फिल्मों में ये काम करती हैं। ये महिला कलाकार बताती हैं कि वे सीन समझकर उस तरह के कपड़े पहले से ही पहनकर आती हैं। मेकअप भी वो खुद ही कर लेती हैं। यहाँ के लोग बिजनेस से अधिक अपने आर्ट से प्रेम करते हैं। **मुश्ताक अहम** जैसे शायर इसी मालेगांव के हैं जो अपनी नज्मों के माध्यम से बड़ी गहराई के साथ इस शहर की व्यथा को स्पष्ट करते हैं। वे लिखते है कि -

मैं एक ऐसी बस्ती का बाशिंदा हूँ
जो लोगों के बसने से बस जाती है।
इस बस्ती में घर गलियाँ हैं तंग बहुत
जिनमें चलनेवाली हवा फँस जाती है ।
छाँव से लगती धूप में जलकर मर जाती है।
एक घुटन एहसास फकत संसार यहाँ
टाट के बोशिदा पर्दे दीवार यहाँ
जिनसे छनकर सूरज घर में आता है।
घर का मुहाफिज एक टूटा दरवाजा है
जो हमसे लोगों को बहलाता है ।

इसी तरह के कई शायर मालेगांव में हैं जो किसी न किसी काम को करते हुए मालेगांव की फिल्मों से शौखिया तौर पर जुड़े हुए हैं। वे अपनी वजह से अपने शहर की पहचान को बढ़ाना चाहते हैं। पैसों के लालच में नहीं। **'मालेगांव का गजनी'** में एक गीत बड़ा लोकप्रिय हुआ –

''महँगई का सत्यानाश नाश नाश
एक पैसा नहीं है पास-पास अब तो
मैं बन गया जिंदा लाश लाश
मेरी आस में उग गई घास-घास
धंधा नहीं है खास खास ...।

इस तरह के गीत मालेगांव के त्रासद जीवन की कहानी व्यक्त करते हैं । **इन फिल्मों की लोकप्रियता में इन गीतों का बड़ा अहम योगदान रहा है।**

मालेगांव में भी फिल्मों को रीलीज करने का अपना तरीका है। पहले फिल्म के पोस्टर लगते हैं फिर टिकट की बिक्री शुरू होती है। **इन फिल्मों का बाकायदे प्रीमियर भी रखा जाता है।** यहाँ पर **माली टेलीफिल्म अवार्ड फंक्शन** भी होता है। जहाँ मालेगांव में बनी फिल्मों के कुछ 'हिस्से' दिखाये जाते हैं। यहाँ के लोगों को लगता है कि सरकार को इन्हें प्रोत्साहित करने के लिए कदम उठाना चाहिए। पायरेसी की परेशानी से अब मालेगांव की फिल्में खुद जूझ रही है। **सोनी सब चैनल पर ''मालेगांव का चिंटू''** दिखाया गया। यह मालेगांव के लिए बड़ी बात थी । आज मालेगांव में यह फिल्म इंडस्ट्री कई लोगों को रोजगार दे रही है। मालेगांव धीरे-धीरे **'मालीवुड'** के रूप् में अपनी पहचान बना रहा है। मालीवुड की फिल्में अब वहाँ के मिनी थियेटर तक सीमित नहीं हैं। **अब वे इंटरनेट के माध्यम से पूरी दुनिया के दर्शकों के लिए उपलब्ध हैं।**

'स्थानीय सिनेमा' जब वैश्विक होने लगता है तो उसे अंदर राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक समझ का होना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि इसके अभाव में वे वैश्विक दर्शकों से अपने आप को जोड़ नहीं पायेंगे। भ्रष्टाचार, गरीबी, संघर्ष, प्रेम और हास्य कुछ ऐसे भाव हैं जिन्हे पूरी दुनिया समझती है। ऐसे में मालेगांव सिनेमा को भारत या भारत के बाहर जो दर्शक पसंद करेंगे वे निश्चित तौर पर **अपनी परिस्थितियाँ, परेशानियाँ इत्यादि के साथ उस फिल्म को कहीं न कहीं जोड़कर देखेंगें।** इन सब स्थितियों में मालेगांव सिनेमा अगर सफल रहा तो अकरम जैसे निर्देशकों को अपने यूट्यूब चैनल के दर्शक 10 मिलीयन तक पहुँचाने में कोई दिक्कत नहीं होती। लेकिन मालेगांव के सिनेमा को अपने विषयों में वह मूल भाव बनाये रखना होगा जो सरहदों के पार भी पसंद किया जा सके। **बड़े बैनर की फिल्में भी सिर्फ़ 'सह उत्पादन / निर्माण' और ''वैश्विक वितरण'' प्रणाली के दम पर ही फिल्में लोकप्रिय नहीं बना सकेगी।** उन्हें अपने विषयों पर गंभीरता से काम करना होगा।

प्रवासी फिल्मों की कहानियों में हम एक ऐसे समुदाय से जुड़ते हैं जो अपना देश छोड़कर किसी नये देश में बसा है। वहाँ उसे किस तरह की सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक एवम आर्थिक परेशानियों से जूझना पड़ता है, कहानियाँ इसी के आस पास घूमती हैं। इस तरह

बहुसांस्कृतिक परिस्थितियाँ में जीवन का चित्रण इन कहानियों का मूल होता हैं । ऐसी फिल्में भावुकता प्रधान भी होती हैं। परदेश में अपने देश की याद भारतीय फिल्मो का एक हिट फार्मूला रहा है। **एनआरआय भारतीय परिवारों का अपनी सभ्यता और संस्कृति में रची-बसी बहू की तलाश में इंडिया आने वाली कहानियां भी एक समय में खूब चलीं।** इस तरह की फिल्मों के लिए यह जरूरी है कि आप जिन दो परिवेशों या समुदायों को दिखाये उनकी बेहतर जानकारी और अनुभव आप के पास हो। ऐसी फिल्मों के निर्माण का खर्च अक्सर बढ़ जाता है। बड़े बजट की फिलमें तो यह खर्चा झेल सकती हैं लेकिन छोटे बजट की फिल्मों के लिए यह संभव नहीं होता।

ऐसे में छोटे बजट की स्थानीय फिल्में बहुत कुछ दर्शकों के विवके पर छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं। उदाहरण के लिए **'मालेगांव की लगान'** फिल्म ली जा सकती है। इस फिल्म में 11 खिलाड़ियों वाली अंग्रेजों की टीम के लिए विदेशी कलाकार लाना इनके लिए संभव नहीं था। अतः निर्देशक भारतीय कलाकारों को ही अंग्रेज बना देता है और यह बात दर्शकों के विवके पर छोड़ देता है कि भारतीय दिखने वाले उन कलाकारों का दर्शक विदेशी समझें। कई लोगों को यह बात हास्यास्पद लग सकती है **लेकिन जिन परिस्थितियों और आर्थिक दबाव में ये फिल्मे बनती हैं, वहाँ इसका कोई बेहतर उपाय भी समझ में नहीं आता।**

अपनी परेशानियों को बताते या चित्रित करते हुए खूबी इसी बात में है कि आप उसे दूसरे समूहों, समाजों इत्यादि के संदर्भों से भी जोड़ सकें। शायद वैश्विक स्तर पर सफलता का यह एक कारगर मापदंड हो सकता है सभी फिल्मों के लिए। सन 2000 के बाद हम पाते हैं कि दृश्य कलाओं के माध्यम से **ऐसे विषयों को लेकर संवेदनशीलता बढ़ी, जिनके बारे में भारतीय समाज खुलकर बोलने से कतराता था।** तकनीकी ज्ञान, इसकी सहज उपलब्धता और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण स्थापित सिनेमा निर्देशकों के अतिरिक्त पूरी एक नई पीढी अपने अनुभवों के आकाश के साथ अपने विचारों एवम कलात्मक गुणों को अभिव्यक्त कर रहे हैं। **देश भर के अनेको छोटे मंचो से इन्हें प्रोत्साहित भी किया जा रहा है। इंटरनेट और सोशल मीडिया के आगमन ने इन कलाकारों को एक नया मंच दे दिया।**

लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंदर यह शक्ति होती है कि वह अपने इतिहास को पुनः व्याख्यायित करने का संकल्प ले सके। यह शक्ति राजतंत्र या तानाशाही व्यवस्था के अंदर आ ही नहीं सकती। हिंसा के हर स्वरुप को अपने पक्ष में देखने, समझने और विवेचित करने की शक्ति सब में नहीं होती। कई बार यह वैचारिक प्रभुत्व की भी बात होती है। लोकतंत्र में शासन बदलने के साथ उसकी वैचारिक समझ भी बदल जाती है। हर शासक यह चाहता है कि इतिहास को उसके नजरिये से समझा और देखा जाय। जहाँ तानाशाही या राजतंत्र है वहाँ ये भूमिका शुरू से होती है । अतः वह उसी के समांतर बस आगे बढ़ता रहता है। लेकिन लोकतंत्र में ऐसा नहीं होता। यहाँ समय, दशा, परिस्थिति के अनुसार जनता के विचारों में परिवर्तन आता रहता है। यह परिवर्तन उसकी राजनीतिक समझ में भी दिखायी पड़ती है। ऐसे में जब पहले से लंबे समय तक सत्ता पर काबिज राजनीतिक दल लोकतांत्रिक तरीके से सत्ता से बाहर हो जाती है तो नई राजनीतिक

व्यवस्था सब कुछ अपने तरीके से नियोजित करना चाहती है। अपनी विचारधारा को 'राष्ट्र की विचारधारा' के रुप में प्रायोजित और स्थापित करना चाहती है। ऐसे में वह इतिहास की तरफ ही देखता है। वह चाहता है कि इतिहास को उसके नजरिये से फिर से लिखा जाना चाहिये।

यही कारण है कि यह कहा जाता है कि ''इतिहास होता नहीं होते हैं। ''कामयाबी का इतिहास रच चुके हिंदी फिल्मों की तर्ज पर" अपने समुदाय और परिसर की जुड़ी समस्याओं को अपनी भाषा और समाज के सहयोग से फिर से जीवंत करना एक बड़ा ही अनोखा फिल्म निर्माण का तरीका है जो 'मालेगांव सिनेमा' के नाम से जाना जाता है। मालेगांव सिनेमा वास्तविक समस्याओं पर केन्द्रित स्व प्रतिबिंबन की काल्पनिकता पूर्ण सिनेमायी अभिव्यक्ति है । जहाँ मौलिकता विचारों और शैली में होने के बावजूद बनावट और स्वरूप का ढाँचा दूसरे का या कहीं और से लिया हुआ है। अन्य फिल्मों के वैचारिक प्रतिबिंबन से निर्मित विचार धारा को अपनी शैली में प्रस्तुत करने की यह पूरी कलात्मक यात्रा 'पैरोडी' 'डबिंग' इत्यादि के खाँचे में फिट नहीं है। इनके लिए नये मापदंड और साँचों को गढ़ना होगा।

विश्व सिनेमा में ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं। अबू बकर, नासिर शेख, अकरम, शकील भारती, ईरफान इलियास जैसे मालेगांव सिनेमा से जुड़े निर्माता निर्देशक अपनी मौलिकता और नवाचार की पद्धतियों में विलक्षण हैं। इनके द्वारा सिनेमा के माध्यम से किये जा रहे प्रभावों की सराहना होनी चाहिए। सरकार को इस दिशा में सकारात्मक दखल लेनी चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची : –

1. हिन्दी के निर्माता – कुमुद शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2012
2. आधी हकीकत आधा फसाना, राजकपूर– प्रल्हाद अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, राजकमल से पहली बार –2007.
3. सिनेमा और साहित्य का अंतः संबंध – डॉ. चन्द्रकांत मिसाळ, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, उत्तरप्रदेश, प्रथम संस्करण 2014.
4. सिनेमा समकालीन सिनेमा – अजय ब्रह्मात्मज, बाजी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006.
5. मानव समाज – राहुल सांकृत्यायन / लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पेपर बैंक संस्करण 2012.
6. टाकीज़ सिनेमा का सफ़र – अजय ब्रह्मात्मज़, मयंक शेखर । राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्कारण 2016
7. बाम्बे टाकी : बातें फ़िल्मों की फ़िल्मी गीतों की – राजकुमार गोस्वामी । वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2011
8. शहर और सिनेमा वाया दिल्ली – मिहिर पंडया । वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2011
9. The Major Film Theories an Introduction by J. Dudley Andrew Oxford University Press, reprinted 2008.
10. Indian Cinema A very short introduction by Ashish Rajadhyaksha. Oxford University Press-2016
11. Ideology of Hindi Film: A Historical Construction (Oxford Uni. Press, 1998).
12. The Melodramatic Public: Film form and spectatorship in Indian Cinema, Palgrave Macmilan, 2011

13. Bollywood: A Guidebook to popular Hindi Cinema by Tejaswini Ganti (Routledge, 2013).
14. Producing Bollywood: Inside the contemporary Hindi Film Industry (Duke University Press, 2012) by Tejaswini Ganti.
15. Global Bollywood (ed. Anandam P. Kavoori and Aswin Punathambekar, New York University Press, 2008)
16. Encyclopaedia of Indian Cin1. SUFI Winter Issue Binnual Journal – Sufism: History, politics and culture: A Conversation with CARL ERNST, Interviewd by ILewellyn Smith, winter 2014.
17. Rethinking Qawwali: Perspectives of Sufism, Music, and Devotion in North India – by – Christopher Paul Holland B.A. - The University of Texas at Austin, May 2010.
18. The Sufi Music of India and Pakistan: Sound Context and Meaning in Qawwali – Regula Qureshi.
19. Genedered Sufi Music: Mapping Female Voices in Qawwali Pervormance from bollywood to youtube channels. & Benson Rajan, September 12, 2018. www.maifeminism.com
20. The Sufi order in Islam – Trimingham J.S., Oxford. 1971.
21. The History of Sufism in India, Vol. I, 1978 – SAA Razvi.
22. The Delhi Sultanate – 1999 by V. D. Mahajan.
23. The Sacred and the Profane: Qawwali Represented in the Performance of Nusrat Fateh Ali Khan – Hiromi Lorraine Sakata the world of Music 36(3) – 1994 JSTOR.